समष्टि

(काव्यसंकलन)
हिंदी अनुवाद

अनुक्रम

कथन

1. समष्टि
2. शब्दालंकार
3. आकाश
4. धरती
5. बीज
6. शम्बूक (घोंघे)
7. धीरे धीरे
8. बुढापा
9. प्रतीक्षारस
10. मालवी
11. मकान की छत पर बगीचा
12. देवदीपावली
13. पत्थरों के नगर में
14. दिल्ली-मेट्रो में
15. बरगद
16. नारियल
17. अधोगमन
18. अनिद्रा
19. संस्कृत के अगाध सरोवर में
20. कोकिल
21. पण्डित और आधुनिक का संवाद
22. मुस्ताक्षति
23. यह कहने की बात नहीं
24. हम

25. चाय पीते समय
26. हेमबर्ग में हिमपात
27. धूप की किस्में
28. थूहर
29. नई नायिका
30. नववर्षमंगल

★★★

कथन

सन्धानम् (1989), *गीतधीवरम्* (1996), *लहरीदशकम्* (1986, 2003), *सम्प्लवः* (2000), *संसरणम्* (2009) - इन पूर्व प्रकाशित काव्यसंग्रहों के क्रम में *समष्टिः* मेरा छठा संस्कृतकाव्यसंकलन है। पहले संग्रह *सन्धानम्* में 1988 तक लिखी कविताएँ संकलित थीं, पाँचवें *संसरणम्* में 2001 से 2009 तक की कविताएँ। *समष्टिः में* 2010 के बाद की ही कविताएँ हैं। विगत चार वर्षों में मैंने संस्कृत में तीन उपन्यास पूरे किये – *अभिनवशुकसारिका, अन्यच्च* तथा *ताण्डवम्*। मेरी संस्कृत में लिखी कहानियों का संग्रह भी *स्मितरेखा* के नाम से इस बीच छपा। काव्यरचना इस अवधि में कादाचित्क रूप से होती रही। फिर भी मैं समझता हूँ कि जो थोड़ी सी कविताएँ समष्टि में संकलित हैं, उससे मेरे भावबोध, अभिव्यक्तिप्रकार तथा चिन्तनसरणि में आये परिवर्तन तथा उनकी विविधताओं को सुधीजन तथा अनुसंधाता पहचान सकेगें। संभवतः इन कविताओं से आजकल के साहित्य से मेरी रचनाधारा का संवाद विशेष रूप से परिलक्षित किया जा सकेगा।

समष्टि में संकलित सभी तीस कविताएँ मेरे स्वयं के हिंदी अनुवाद के साथ प्रकट हो रही हैं – इससे मुझे विशेष संतोष है। इसके पहले मेरी 51 संस्कृतकविताओं के हिंदी अनुवादों का संग्रह - *चतुरस्र* - साहित्य अकादेमी के द्वारा 2006 में प्रकाशित हुआ था, तथा उसके आगे पीछे विभिन्न पत्रिकाओं में मेरी कविताओं के हिंदी, पंजाबी, गुजराती तथा अंग्रेजी में अनुवाद छपते रहे हैं। *लहरीदशकम्* के द्वितीय संस्करण में दसों लहरीकाव्यों के हिंदी गद्यानुवाद थे। आशा है कि इस संकलन की कविताओं तथा उनके अनुवादों से संस्कृत और हिंदी के साहित्यों की पारस्परिकता भी सुधीजन समझ सकेगें।

देववाणीपरिषद् के प्रवर्तक, संस्कृतसेवाव्रती, कृती पद्मश्री महाकवि रमाकान्त शुक्ल जी के अनुग्रह से *समष्टिः* प्रकाशित हो रही है। उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

आचार्य भागीरथि नंद ने इस पुस्तक की मुद्रित प्रति के संशोधन में बहुमूल्य सहयोग दिया, वे मेरे अशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

राधावल्लभ

समष्टि

कितनी कितनी लहरें
गलबाहीं कर टकराईं
कितने भँवर घूम गये
कितने विवर्त बने
इन सब की समष्टि में
कभी शायद बन सका
बुलबुला एक।

बुलबुले का जीवन ही कितना
लहर से लहर
आवर्त से आवर्त
विवर्त से विवर्त
इन सबकी मिलने से
वह बन सकता है,
नहीं भी बन सकता है
बन भी जाये तो एक क्षण ठहरता है बस
इन सब के बीच
फिर फूट कर विलीन हो जाता है।
कदाचित् कभी ऐसा भी हो जाता है
कि एक क्षण के लिये टिक गये बुलबुले को
पलक की झपक के बराबर समय के लिये
सूरज अपनी किरणों से छू भर देता है
तब आधे क्षण के लिये बुलबुले के भीतर रच जाता है
सतरंगी आभा वाला इंद्रधनुष।

काल का अजस्र यह जो महानद है बह रहा
इसमें पता नहीं किन संयोगों से
बना और एक क्षण टिका

बुलबुला हूँ मैं
मुझे जन्म देने के लिये
कितने बादल बरसे
कितनी धाराएँ बहीं
बुलबुले की औकात क्या?
एक क्षण का उसका जीवन।
पर एक क्षण मेरे टिके रहने पर
देवता ऊपर मुस्काते हैं प्रसन्न हो कर।
उनकी मुस्कान की सतरंगी आभाओं में
स्पंदित होता है मेरे भीतर
एक क्षण का और जीवन
कई कल्पों की आयु से बड़ा एक क्षण।

★★★

शब्दालंकार

शब्दों की नसेनी पर चढ कर
मैं पहुँचता हूँ उस खिड़की तक
जिसके पार
दिखता है अनन्त।

दीपक करते हैं उजाला
कुछ दूर साथ चलने वाला
शब्दों के दिये
मन की देहली पर धरे
भरते हैं उजास
भीतर बाहर की दोनों दुनियाओं में
धीरे धीरे यह उजास फैलती है
आसपास, निकट, परे और बहुत दूर
गहने सजाते हैं देह
शब्द बनते हैं अलंकार
जिनसे सँवरता है संसार

★★★

आकाश

क्या करे यह आकाश?
हवा की तरह वह बह नहीं सकता
आग की तरह जला नहीं सकता
पानी की तरह धाराओं में नहीं बँट पाता
धरती की तरह नहीं उठा सकता बोझ

हवा में स्पर्श है
आग में रूप है
पानी में है रस
धरती में रमी है गंध
पर आकाश में है ही क्या?
उसका तो होना, न कुछ होने में ही
वह भी ललचता है स्पर्श के लिये
वह भी चाहता है रूप
उसे भी गर्मी चाहिये
वह भी माँगता है रस
गन्ध का लोभ उसमें
वह घट घट में घुसता है
मठ मठ में करता है प्रवेश
पर नहीं मिलती उसे अलग पहचान
कहते हैं पण्डितजन
घटाकाश हो या मठाकाश
आकाश तो है केवल आकाश
गगनचुम्बी इमारतों के जंगल में
वह भटकता है बदहवास
उसे सब ओर से पीस रहीं हैं इमारतों की घनी पाँतें
डराता है उसे धुआँ
पाइपों से फूटता

आकाश ढूँढता फिरता है अपना खुद का आकाश
आकाश के लिये
कहीं नहीं है अवकाश
क्या करे बिचारा आकाश?

★★★

धरती

क्या करे यह धरती?
इस सागर का यह क्या करे?
जितना गंभीर और विशाल
धरती से कई गुना बड़ा इसका आकार
पर उसके लिये तो
वह निरा बच्चा ही था
उसके पाँवों पर पड़ा खेलता रहता
फेन के पुंज में खिलखिलाता
वह इसे खेलता देख खुश हो लेती थी
कविजन कहते
हमारी यह धरती - सागररशना।

कभी कभी शरारत पर उतर आता सागर
वह लहरों के हाथ उठा उठा कर धरती को छूना चाहता
उसे नहला देता।
धरती उसके खेल से भी खुश ही होती
सागर उसके आगे थिरकता
कभी कभी दुस्साहस कर बैठता सागर
धरती के पुत्रों की नौकाएँ डुबो देता
धरती उदास देखती रह जाती
जहाज डूब जाते....

पर ऐसा तो पहले नहीं हुआ कि
सागर दुर्दांत दानव की तरह
इसे निगल लेने को दौड़ लगाये
यह सागर तो पहचाना हुआ नहीं
इसका ऐसा विकराल रूप पहले देखा नहीं
इस सागर का क्या करे यह धरती?

बीज

कुछ ऐसे बीज थे जो गोदाम में पडे पड़े
अकुलाते रह गये कि
हमें भी डाल दिया होता किसी क्यारी में
कोई हमें हाथ में उठाता
और खेत में उछाल कर फैंकता,
हम भी अँकुरा लेते
हम में होते नये पात
हम अपने आप को फसलों में बिखेर पाते
और हम फिर से बीज हो जाते।
उनके सपने दिवा स्वप्न बन कर रह गये।
कुछ बीज थे जो कूड़े में फैंक दिये गये
वे उसी में कुकरमुत्तों जैसे उग पड़े
जब तक वे देखना शुरू करते कोई सपना
तब तक नगरपालिका का वाहन आ कर
उखाड़ ले गया उन्हें।

कुछ ऐसे भी थे बीज
जिनका बीज होना ही बधिया दिया गया
प्रयोगशालाओं में
निर्वीर्य बने हुए वे बीज
फिर से बीज होना चाहते रह गये

मुश्किल ही होता है
बीज हो सकना।
उससे ज्यादा मुश्किल होता है
बीज का अंकुर बनना-
अंकुर का शाखाओं में और पत्तों में विस्तार लेना।
चाहता है हर बीज

बोया जाना, अंकुराना, शाखाओं में पत्तों में, फसलों में लहलहाना,
सारे के सारे बीजों की कामनाएँ फल जाएँ
ऐसा हो नहीं पाता।

और उन बीजों का क्या
जो मन के कोने में पड़े रह गये?

★★★

शंबूक (घोंघे)

शंबूक हैं हम
सीपियाँ हैं हमारी काया
आत्मा की तरह हम इनमें समाये
विकट संकटों की मार में
हम भीतर समा जाते हैं
अपनी काया में
बचाये रखते हैं खुद को
मरने बिखरने से
सीपियों के भीतर रह कर
हम विचरते हैं
सागर के अपार गह्वर में
बटोरते हैं मोती
जानते हैं हम
कि जब चले जाएँगें अपनी कायाएं छोड़
तब ले जायेगें लोग इन्हें बटोर
सीपियाँ जो हमारे शव हैं,
उनमें वे खोजेंगे मोती
शंख भी हैं हमारे ही देह
इन्हें जब छोड़ कर जब हम करते हैं महाप्रयाण
जब निर्जीव हमारे देह
उठा उठा कर घुमा फिरा कर
फूँक मार कर
गाल फुला कर
बजाते रहते हैं इन्हें लोग
जिनके भीतर हम नहीं होते..

★★★

धीरे धीरे

जीवनसर के तट पर
पिया अंजलि भर भर कर रस
जो प्यास कभी थी गहरी
बुझी वह धीरे धीरे

मेरे मानस पर
छाया सुन्दरता की उतरी
मानसरोवर पर जैसे
संध्या उतरे धीरे धीरे

आकांक्षा की मदिरा पी कर
आवाजाही की बहुतेरी
खुमारी उसकी पर अब
चुक रही वह धीरे धीरे

रजनी वह भोर हुई
छँट रहा है अँधियारा
ओस की पाँत बिखरती
जा रही वह धीरे धीरे

झंझा मंथर हुई
प्रभंजन ने थम कर एक साँस भरी
मनोरथ की लगाम मैंने
खींची है अभी धीरे धीरे

भाग दौड़ से क्या होगा
क्या होगा उतावली से
शिथिलता इक आभा बिखेरती
छाई मुझ पर धीरे धीरे

आस्था की पतवार पकड़ कर
संकल्प के डोंगी में सवार हो
दुस्तर जीवन नदी को मैंने
किया है पार
धीरे धीरे

जैसे साँप केंचुल उतार कर
नई केंचुल धरता है धीरे धीरे
ऐसे ही अपना पुराना चोला उतार कर
नया धारण करता मैं
धीरे धीरे

★★★

बुढापा

चमड़ी पर बढती झुर्रियों के साथ
समतल होती जाएँ जब
सलवटों से भरी
शिकन जिंदगी की,
सफेद होते चले जा रहे केशों के साथ
मिटतीं जाएँ जब
मन पर पुतीं
कालिख की परतें;
आँखों की मंद होती ज्योति के चलते भी
भीतर की आँखों में झलक उठें
जब साफ साफ
वे सारे पड़ाव जो पीछे छूट गये,
और - जो आगे हैं
वे साफ झलकने लगें;
दिखने लगे
जो कुछ हुआ हासिल उसके आर पार

जब कोई शिथिल धीमे कदमों से
जीवन भर के तप की
खरी कमाई साथ लिये चले
तो उसके बूढा हुआ जानो।

अभिशाप नहीं है बुढापा
बहुत आसान भी नहीं है
बूढा हो पाना;
उम्र बीत जाने पर भी
बूढे होने से रह जाते हैं कितने कितने लोग
ऋषि मुनि ओ ज्ञानी जन

इसी कामना में गुजारते हैं जीवन
कि वे बूढे हो सकें;
जब कि कई पंडित जन
मृत्यु के द्वार तक आ कर भी
पोसते रह जाते हैं
बदरंग हो चुका मिथ्या यौवन

कितने अभागे हैं देवता
कि वे बूढे हो नहीं सकते;
वे अपने आकाश से
हसरत के साथ निहारते रहते हैं
मृत्युलोक के कुछ उन बूढों को
जिनके कमजोर हुए कंधों पर
धरती टिकी हुई है

यक्षों की अलका से
कितनी अच्छी है यह धरा हमारी
जिसमें बूढा हो पाना
अभी भी संभावना है
कच्चे फल पक कर
छोड़ देते हैं
अपना वृंत
यौवन का वृंत छोड़ कर
और मधुर होता जाता है
जीवन का फल
बुढापे के पकाव में

बूढे आदमी के ऊपर के ओठ पर मृत्यु
और अधर पर अमृत रहता है
दोनों के बीच जो बहुत पतली रेखा है मुस्कान की
वह उसका जीवन है।

आदमी जितना जितना बूढा होता है
उतना उतना बच्चा बनता जाता है
मृत्यु माँ की तरह आती है
और उसे अपने अंक में उठा लेती है।
मृत्यु इसे अपने अंक में लिये लिये
झुलाती हुई ले चलती है
कहाँ ले जा रही हो मुझे? -
बूढा आदमी जो अब बच्चा बन चुका है, पूछता है उससे

अनन्त की महासरिता के किनारे
ऊँची चट्टान के आखिरी छोर पर खड़ी
ठिठोली करती करती पूछती है उससे मृत्यु
अब छोड़ दूँ, अब छोड़ दूँ?
क्या मृत्यु जानती है,
कि उसकी भुजाओं के बंधन से छूट कर
छप्प से जिस अनन्त गह्वर में बूढा गिरेगा
वह अमृत का सागर है।
मृत्यु को सामने देख कर
मुस्काता है बूढा आदमी
मृत्यु उससे लुकाछिपी करने लगती है
अपने सामने मृत्यु को लास्य में थिरकती
देखता है बूढा आदमी
और मुस्काता है।
क्या बूढा आदमी
अपनी इस मुस्कान की सारी अनोखी भव्यता के साथ
खड़ा हो सकेगा अपनी उन संतानों के सामने
जो उसे जबरन् वृद्धाश्रम छोड़ आने के लिये बेताब हैं
क्या उसकी संतानें समझ सकेगीं
कि उसका होना
उनके लिये अभिशाप नहीं
जीवन के अमृत से भरे आशीर्वादों का वर्षा है?

★★★

प्रतीक्षारस

रात भर सुख से सोया,
मुँह अँधेरे
नींद खुली।
कुछ देर प्रतीक्षा में रहा कि
कि शायद नींद फिर से चली आये

नींद क्या टूटी कि
दूर से एकाकी
किसी कौवे की काँव काँव कान में पड़ी
कितना कोमल मृदुल नाद कौवे की काँव काँव का
अक्सर ऐसे मौकों पर लगता रहा है कि वह
यह में ध्यान रख कर अपने कंठ में काँव का स्वर भरता है
कि भोर की अलसाहट में आप कुछ और सोना चाहते हों, तो सो ही लें
आप जागने जागने को हों, तो जग कर उठ ही लें
माताएँ इसी तरह बच्चों को जगातीं हैं
इसी तरह नींद से उठाने के लिये पुकारते हैं पितर।

आज तो चाय बनाने में भी कोई गड़बड़ी नहीं हुई
जिस चम्मच से भर कर चाय की पत्ती डालता हूँ
वह सही जगह पर मिल भी गया
शकर भी सही पड़ी
न ज्यादा न कम,
उतनी ही शकर, उतनी ही चाय पत्ती उतना ही दूध
जितना रोज होता है,
पर चाय में ही स्वाद कुछ अधिक लगा

बाहर बेहद घना कोहरा था,
मन मे आशंका थी कि

कोहरे के कारण शायद
मुझे एयरपोर्ट पहुँचाने के लिये टैक्सी
वक्त पर आ न पाये,
पर यह आश्वस्ति भी कि -
उड़ानें ही समय पर कहाँ चल रही होगीं।

कुछ देर से ही सही
टैक्सी आई तो,
इतने घने कोहरे में
ड्रायवर गाडी कैसे चला पायेगा
कई कारें कोहरे के कारण सड़क के किनारे खड़ी
कर सो गये थे ड्रायवर, पार्किंग की बत्तियाँ जला कर
कोहरे में विलंब हुआ, इस सारे विलंब के भीतर से
समय पर एयरपोर्ट पहुँच गया
भीतर जा कर पाया कि विमान तो समय पर है
समय पर चलने वाला विमान थोड़े विलंब से ही चला
थोड़ा विलंब हुआ, थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी
पर विमान में समय पर बैठ ही गया
अब सुस्ता लिया
थोड़ा विलंब हुआ, थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी
पर यह बुद्धि मेरी बुद्धि में आई तो
कि अंत पर पहुँच कर
सब कुछ ठीक और समय पर हो सकता है।
थोड़ा विलंब हुआ
थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी
इस विलंब में और प्रतीक्षा में
जो रस बसा था
वह बचा हुआ है।

★★★

मालवी

सेवानिवृत्ति की सीढियों से उतरते हुए
धरती को छू रहे हैं पाँव
वानप्रस्थ और संन्यास की संधि पर खड़े
मेरे मन के कई आवरण टूट रहे हैं
तो
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य के पृथुलकाय ग्रन्थ के नीचे दबी
काव्यप्रकाश की किताब के पीछे
जिस किसी कोने में छिपी
मेरी असावधानी के एक क्षण में
लौट आई अकस्मात् मेरे पास -
मालवी।
जैसे क्रौंचपक्षी के वध पर
कवि का शोक
श्लोके में फूटा हुआ।
कोई दो तीन वाक्य मालवी के
पत्नी से बात करते हुए सहसा मेरे मुँह से निकल गये।

अब सोचता हूँ
कौन है वह
जो इस तरह अचानक मालवी बोल पड़ा है
वह इन साठ सालों में कहाँ था
मैं अपने भीतर झाँकता हूँ
उसे पहचानने के लिये।

★★★

घर की छत पर बगीचा

छोटा सा घर
घर पर छत भी छोटी सी
पानी भी थोड़ा सा,
इस थोड़े में समाया हुआ थोड़ा सा अनन्त --
गमलों में और टोकरियों में लगाये पौधे।
छत पर नन्दन कानन उतर आयेगा
ऐसी तो दूर-दूर तक कभी कोई संभावना नहीं रही।
ये ठहरे छत पर लगे पौधे
ये बहुत थोड़े में संतुष्ट हो जाते हैं
थोड़े में रीझ जाते हैं
थोड़ी हवा का झोंका, थोड़े पानी की फुहार
इसी में खुश-वुश हो लेते हैं।

इनको प्रेम से नहला दो
ये बच्चों की तरह हँसते लगते हैं
उसके बाद अपेक्षा से ताकते हुए
कि इसके आगे क्या?
बोगनबेलिया की बेल
इन से कुछ दूर ऊपर उठने की कोशिश में
अन्यमनस्क सी कहती है अपने संगियों से
जहाँ ऊँचे ऊँचे मकानों का जंगल फैला है
वहाँ पहले सचमुच का जंगल था
इस जंगल में मेरी नानी थी
जब मुझे उखाड़ कर यहाँ लाया गया
तो वह उदास बहुत हुई
अब जंगल वहाँ नहीं है
वह पता नहीं कहाँ होगी

एक गमले में वटवृक्ष
काटछाँट कर लगाया हुआ सिकुड़ा सिकुड़ा
किसी तरह साँस लेता हुआ
उसका कष्ट देख कर गमले में लगे दूसरे पौधे
हँस कर उसे ताकते
वह उन पर चिढता हुआ कहता -- अरे देखते क्या हो?
तुम लोगों ने मेरा विराट् रूप नहीं देखा
मुझे इस गमले से निकाल कर
खुली धरती में लग जाने दो
तब मैं सब ओर फैली अपनी जड़ों से
क्रांकीट के इस जंगल को ही ध्वस्त कर दूँ!

गमलों में बैठे बाकी पौधे उसकी घुड़की से चुप रह जाते
कोयल कूकती, वे बहुत उल्लसित न होते
वे पाठशाला में गुरूजी के डंडे से डरे हुए बच्चों की तरह
गुमसुम बैठे रहते।

गृहस्वामी सोचता
अभी तक इन्हें पानी तो देते रहे
जब छत पर पानी नहीं चढेगा
तो क्या होगा?

★★★

देवदीपावली

कार्तिक की पूर्णिमा के उत्सव पर
काशी में गंगा के तट पर
विश्वनाथ के घर के आगे
जब मनती है देवदीपावली
गंगा अपनी लहरों पर तिरते असंख्य पावन दीपों से
आरती उतारतीं है शंकर महादेव की।

दियों की पाँतें लहरों पर सरकती हैं
अगणित दीपों की झिलमिलाहट में
जैसे आकाश से उतर आता है नक्षत्रों का चक्रवाल
गंगा के तल पर।
फिर तो आकाश के मंडप के नीचे
गंगा तट के रंगमंच पर
शंखों और नगाड़ों की तीव्र वादन में
अर्धनारीश्वर लास्य और तांडव एक साथ करते हैं

नौकाओं में बैठे विदेशी सैलानी
चकित हो कर ताकते रह जाते हैं
एक और गंगा के जल में बिछती चाँदनी
चाँदी के सेतु दोनों पाटों को जोड़ते
उनके आसपास फैली दीपों की कतारें
और उनके बीच सरकती
सैंकड़ो नौकाएँ

(और एक अंश प्रक्षिप्त भी)
कोई जुआ खेल कर, कोई मदिरा पी कर
कोई पटाखे चला कर
कोई बिजली की रोशनियों के वितान रच कर

कुछ और लोग पूजामंगल के शुभसंभार लजा कर
दीपोत्सव का आयोजन करते हैं
जिन्होने अपने आप को दीपक बना लिया है
उनके लिये तो नित्य दीपावली है।

★★★

पत्थरों के नगर में

पथिक, बिछावन (बिस्तर, शास्त्र) नहीं है
पत्थरों से भरे हमारे गाँव में[1]
(गाथासप्तशती- 873)

शास्त्रों की शैया पर
कविता के तकिये पर टिक कर
अब लोग यहाँ बैठे नहीं दिखते
पत्थरों के नगर में सभी कुछ है
पथराया हुआ

पत्थरों के उद्यान
पत्थरों के मकान
पत्थरों के शरीर
पत्थरों के मन
जहाँ देखो पत्थर
पड़े हुए बुद्धि पर, मन पर
पत्थरों की प्रतिमाएँ
पत्थरों की समाधियाँ
बुत बनाने के लिये पत्थरों के ढेर

पत्थरों के भार तले
कराहती धरती
धरती की काया पर
पत्थर फैंकते लोग।
जो धरती
ऊँचे ऊँचे विशाल पहाड़ों के भार से
बेहाल न हुई

[1] प्राकृतमूल - पंथअ, ण एत्थ संथरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे।

यहाँ उसके लिये एक एक पत्थर
झेलना हुआ दूभर

अब अपराधक्षमापणस्तोत्र रचने वाले सुकविजन भी नहीं
जो उससे कहें कि
हे माँ धरती,
पत्थरों से हमने तुम्हारी काया, जो क्षतविक्षत कर दी
इस पाप के लिये हमें क्षमा करना
हमारे पास के तो शब्द भी हो चुके
पथराये पथराये

★★★

दिल्लीमेट्रो में चार दृश्य

(दृश्य 1)

(इस दृश्य से पर्दा बींसवीं शताब्दी के आखिरी वर्ष की किसी तिथि में उठता है)

मैं कौतुकवश मन बहलाव के लिये मेट्रो में चढ गया था
एकदम चिकना चिकना नया कंपार्टमेंट
सब कुछ सुंदर, नवीन व्यवस्थित
सारे संसार में कहीं कहीं ही मिलेगी
इतनी बढिया व्यवस्था मेट्रो की
गर्व अनुभव करता हुआ मैं आराम से
एक सीट पर बैठा
मन में बार बार धन्यवाद दिया
मेट्रोमानुष श्रीयुत श्रीधरन् जी को
जिनका पौरुष है कि
यहाँ बैठे बैठे लगता है ज्यों
पेरिस या वियना में हों
और गर्व से माथा ऊँचा कर कर सकते हैं हम!

(दृश्यम्-2)

इस दृश्य से पर्दा इक्कीसवीं शताब्दी के पहले दशक में किसी तिथि पर उठता है)

मेट्रो में सब कुछ सुख कर है
आवाजाही पहले से ज्यादा है, पर भीड़ भड़क्कड़ नहीं
मैं घुसता हूँ तो कोई सीट खाली नहीं
लड़के लड़कियाँ, स्वस्थ युवकयुवतियाँ
काबिज सारी सीटों पर
पर मुझे आया देखते ही
वरिष्ठ नागरिकों के लिये आरक्षित सीट पर से
उनमें से कोई उठा
और बैठिये अंकल कह कर खड़ा हुआ
मैं प्रसन्न

सुख से बैठा....

(दृश्यम् -3)

इस दृश्य से पर्दा इक्कीसवीं शताब्दी के दूसरे दशककी किसी तिथि पर उठता है)

बहुत अधिक भीड़भाड़ और रेलम्पेल में
कंधे परस्पर टकराते
किसी तरह डिब्बे में घुस पाया
हाथ में सामान के थेले भी थे और थका शा
पहले की तरह नया नया सा धुला धुला सा चिकना
नहीं लगा कंपार्टनेंट
वरिष्ठ नागरिकों के लिये आरक्षित सीट तक पहुँच कर
अपेक्षा से मैंने एक लड़के को देखा
जो उस सीट पर काबिज था
उसने उपेक्षा के साथ उड़ती सी दृष्टि मुझ पर डाली
और हाथ के मोबाइल में डुबो दी
मैं वीतराग की तरह खड़ा रहा..

दृश्य - 4

(इस दृश्य से पर्दा भविष्य में इक्कीसवीं शताब्दी के तीसरे दशककी किसी तिथि पर उठेगा)

घुसना लगभग असंभव
मेरे जैसे बूढे आदमी के लिये
पर जाना तो था
घुसा नहीं भीड़ के रेले के साथ कंपार्टमेंट में ठेल दिया गया
यहाँ से वहाँ धकेला गया
पर चलो किसी तरह भीतर आ तो गया
हाथों के मोबाइलों में डूबे
या एक दूसरे गपियाते
लड़के और लड़कियाँ

मुझे देखते और हँसते
उनमें सेकिसी ने कहा -
अरे यह बूढा!...
यह अभी तक जीवित है
कितने दिन और बोझ बना जीता रहेगा यह?

★★★

बरगद

राजमार्ग के बगल में अकेला खड़ा है
यह बरगद का पेड़
पहले बहुत से पेड़ रहे होंगें उसके आसपास,
सब ओर और निकट
बंधुबांधवों की तरह
उसे घेरे हुए।

एक एक कर के वे उसे छोड़ कर चले गये
राजमार्ग के विस्तार की
बड़ी योजना के क्रियान्वयन के समय
यह हृदय पर पत्थर रख कर देखता रहा
अपने बंधु जनों का निर्घृण वध।

इसी शहर में इतिहासविद् मेरे एक मित्र रहते हैं
वे इस बरगद के पेड़ का इतिहास कुछ यों बतलाते हैं
यह पहले कभी सहस्रशीर्षा सहस्राक्ष सहस्रचरण सहस्रबाहु पुरुषकी तरह था
हजारों लोगों का सभागृह
स्वच्छ अपनी छाया में यह रच देता था
गाँव के लोग
इसकी छाया में बैठ कर
गपशप करते, किस्से सुनाते या मिल कर गाते
यह सुनता रहता।
गपशप, कथा या गायन सुनने के लालच में
देवता आसमान से उतर कर
इसकी घनी शाखाओं में छिप कर बैठ जाते
साँझ होने पर
दूर से उठती
सियारों की हुआँ हुआँ
या भालुओं की थूत्कार
उल्लुओं के घूत्कार

कभी मोरों की आकुल केका ध्वनियाँ
बीच बीच में पर्वतों के वक्षःस्थल चीरते
हाथियों की चिंघाड़ और सिंहों के गर्जन
सुनाई पड़ते।
असल में वे पशुपक्षी गाँववालों की कथाओं में हुँकारी देते थे
या उनके गायन में कभी नगाड़े की थाप,
कभी मँजीरे के शिंजित से संगत करते थे
एक बार एक महान् गायक
राजसभा में दुष्टों की दुरभिसंधि के कारण निर्वासित
हो कर यहाँ से निकले
और इसकी छाया में बैठ उन्होंने विश्राम किया
फिर बैठे बैठे उन्होने यों ही भैरवराग गाया
तब इस वरगद की हर शाखा में
वीणाएं निकल आईं
और यह महान् गायक की संगति में
एक साथ एक हजार वीणाएं बजाता रहा
अपनी दस हजार भुजाएँ कंपित करता
झूमता हुआ
इस अद्भुत दृश्य को देखने के लिये
देवता द्युलोक से अन्तरिक्ष तक आये
और फूल बरसाने लगे इस पर

मेरे इतिहासविद् मित्र
अपनी ये सारी कथाएँ अपने साथ लिये
पिछले साल गुजर गये

भोर होने पर कभी कभी मैं इस रास्ते से निकलता हूँ
और बरगद के पेड़ को धुएँ में लिपटा धूलिधूसरित और उदास देखता हूँ।
अब कुछ लोग मानते हैं
कि पेड़ों में स्मृति भी होती है
क्या याद करता होगा यह बरगद
क्या अपने बंधु बांधव उन पेड़ों को
जिनकी घनी पाँते इसके आसपास चारों तरफ फैलीं थी?

इसके परिसर को अपनी चहचहाहट से गुँजाने वाले
पक्षियों को
या उन वन्यपशुओं को
जिनकी चिंघाड़े, गर्जन
इसके परिसर में गूँजते थे?
या उस गायक को
जिसके गायन की संगत में इसने
एक साथ हजार वीणाएँ बजाईं थीं?

रहा होगा इसके आसपास पहले घना जंगल
अब यहाँ कांक्रीट का जंगल है
गपशप, कथाएँ, गायन सब अतीत का कथाएँ रह गईं
अब यहाँ सियारों की हुआँ हुआँ नहीं सुनाई पड़ती
भालुओं की थूत्कार नहीं उठती
न उल्लुओं के घूत्कार।
मोरों की आकुल केका ध्वनियाँ
पर्वतों के वक्षःस्थल चीरती
हाथियों की चिंघाड़ और सिंहों के गर्जन
ये सब अतीत हुए
उनकी जगह
कान फोड़ते
सायरन के स्वर हैं या
गाड़ियों के हार्न की चीत्कारें।

अब कोई आशा नहीं रही कि
इस बरगद के आसपास
हँसेगें भोले पौधे
खिलखिलायेंगे फूल
मुस्कायेंगे किसलय
कितना समय हो गया इसने फूल नहीं देखे
इसके खुद फल भी सूख रहे हैं
नईं कोंपले अब उसमें आती नहीं
पुराने जीर्ण पत्ते भर इसकी काया पर हैं
वे पक्षी अब नहीं

जो इसकी हजारों शाखाओं में दुबके
अपनी चहचहाहट से
बजाते थे एक साथ असंख्य वीणाएँ
उन्हीं के कारण तो यह किंवदंती वृक्ष बना
अब इसकी किंवदंतियाँ भी
सूखे पत्तों की तरह झर गईं।
उनकी मर्मरध्वनि भी अब नहीं सुन पड़ती।

एक बार
इस बरगद के पास के चौराहे पर
आमसभा में नेता जीका भाषण हुआ
अरे देखो देखो – नेताजी ने कहा –
इस बरगद के आसपास कुछ नहीं उगता
यह शोषक है
केवल अपनी ही जड़ों का पोषक है
हमें मिटाने होंगे ऐसे बरगद
कितना तो स्थान इसके व्यर्थ फैलाव ने घेर रखा है
इसकी जगह तो हमारे प्रिय नेता
श्रीमान् शीकामुरा जी की प्रतिमा होनी थी ..
मुझे लगा कि बरगद का पेड़
यह सब सुनते सुनते और उदास हुआ है।

नेता जी भाषण कर के चुप न रहे
उन्होने मंत्रिमंडल की बैठक बुलाई
बरगद को हटा कर
उसके स्थान पर शीकामुरा जी की प्रतिमा स्थापित की जाये
यह प्रस्ताव पारित कराया।
कुछ सिरफिरों को यह प्रस्ताव अच्छा न लगा
उन्होंने उच्च न्यायालय में याचिका दाखिल की
कि प्रतिमा की स्थापना निरस्त की जाये
उनकी जिरह सुनने के बाद
उच्चन्यायालय ने स्थगन आदेश दे दिया ।

अगले दिन मैंने सुबह के अखबार में
शीकामुरा जी की प्रतिमा स्थापना पर
स्थगन आदेश की खबर पढी
फिर बाहर निकला
वरगद के पास से निकलते हुए
मुझे लगा
कि बरगद हँस रहा है

★★★

नारियल

पेड़ तो वह एक ही था नारियल का
अनेक शाखा प्रशाखाओं से भरा पूरा
उसके उम्दा फलों की कोई एक ढेरी
देवता के मन्दिर में चढाई गई
फिर प्रभु का प्रसाद बन कर
एक हाथ से दूसरे हाथ में बँटती चली गई
एक और ढेरी उसी के फलों की
विवाह के मंगल में
किसी के स्वागत सम्मान में अर्पित हुई।

एक ढेरी वह थी
जिसकी जटाएँ उतारी गईं
गुँथीं
और रस्सी बनी
कोई और ढेरी आहुति बन कर
आग में जली
और कोई इंधन बन कर चूल्हे में
कोई गट्ठर के गट्ठर लादी गई
यानों और जहाजों में
ले जाई गई
एक देश से दूसरे देश
फिर कहाँ गुम हुई क्या पता?

कोई और ढेरी थी जो पीस दी गई
निर्दयता के साथ
और निकाल लिया गया जिसका तैल
तैल हो कर वह खो गई सुंदरियों के काले केशों में
अँधेरों के किन्हीं कोनों में।

एक और ढेरी थी जो निचोड़ ली गई
विलासियों के लिये मदिरा बनने को
और फैंक दी गई
थूकी हुई वस्तु की तरह
कोई और ढेरी स्वादिष्ट व्यंजन
बन कर सजी, कोई बन कर रह गई
चटपटी चटनी बस।

नारियल की कुछ और ढेरियाँ
शीतल पेय की लालसा में लोलुप
घोर ताप से सूख रहे ओठों वाले
और पसीने से लथपथ
तृष्णातुर लोगों के द्वारा
चूमी गईं
भोग ली गई
तिरस्कृत और उपेक्षित
फैंक दी गई फिर
गलियों में कहीं..

★★★

अधोगमन

भरत के सौ बेटों ने पिता से नाट्यविद्या सीखी
कुछ समय के बाद
वे गँवारू शिल्पक करने लगे
उस शिल्पक में
ऋषियों पर रहता था व्यंग्य
दुराचार का विचार
ग्राम्यधर्म के साथ किया गया,
निष्ठुर थी वह प्रस्तुति
और अप्रस्तुत भी।
--- अरे अरे यह तो उपहास है हमारा
हमने कितना तप किया
उसका यह हमें दुर्विपाक मिला
यह कहते हुए भयंकर रोष में फनफनाते
क्रोध में जलते ऋषियों ने उन भरतपुत्रों से कहा -
क्या अच्छी बात है यह
हमारी इस तरह खिल्ली उड़ाना?
यह हम न सहेंगे।
तुम लोग व्रात्य हो जाओगे
तुम होम नहीं कर पाओगे
तुम सब शूद्राचार हो जाओगे
तुम सब हो जाओगे अपांक्तेय और कुत्सित
यह शाप सुना उग्र तेज वाले मुनियों का
खिन्न हुए नट और पिता भरत के पास आये
बोले उनसे –
आपने तो हमारा करा दिया सत्यानाश
यह नाटक नहीं था, भूल थी हमारी
हम इससे हो गये शूद्राचार
भरत ने कहा –
भोले हो तुम सब

यह शाप नहीं था मुनियों का
यह तो था आशीर्वाद और वर
यह नाट्य को सारी धरती पर फैलाने का
एक अवसर
उनके आदेश से नट
हिमालय से नीचे उतरे
और भरतपुत्रों के द्वारा
इस तरह नाट्य का अवतरण भू पर हुआ
भरतों का उनसे वंश चला और भविष्य भी ।।[2]

★★★

[2] यह कविता नाट्यशास्त्रस्य के अंतिम अध्याय पर आधारित है। अन्तिम दो पंक्तियाँ नाट्यशास्त्र से उद्धृत।

अनिद्रा

अनिद्रा से मैं कई साल बहुत परेशान रहा
वह पूतना की तरह आती
और मुझे गोद में ले कर
अपना विषाक्त स्तन मेरे मुँह में दे देती
वह एक मरुस्थल रच देती
जिसके निरवधि विस्तार में
प्यासा मैं दौड़ता रहता
वह कुलटा की तरह कुवचनों के साथ
कौर कौर मुझे चबाती जाती
अब मैंने उसे स्वीकार कर लिया है
वह हँसती हुई आती है , मैं उसके साथ विहरता हूँ
निद्रा दूर खड़ी ताकती रहती है
मैं एक अगाध नद
निद्रा और अनिद्रा के दोनों तटों के बीच
बहता हूँ
दोनों को आप्लावित कर
मेरे साथ बहने को तरसते रहते हैं
दोनों ये किनारे।

★★★

संस्कृत के अगाध सरोवर में

संस्कृत
एक अगाध सरोवर
मैं उसमें
बहुत छोटी सी मछली
यदा कदा
अपनी मुंडी बाहर निकाल कर
उन्मुक्त आकाश को भी
देख लिया करता हूँ

संस्कृत के अगाध इस सरोवर से
कितनी ही नदियाँ निकलीं
कितनी निकल कर लुप्त हो गईं
कुछ अभी तक बहती हैं
सरोवर अभी भी कायम है

संस्कृत के अगाध इस सरोवर में
ठहरा हुआ प्रवाह
फूटती है सड़ी दुर्गंध
कुछ लोग इसके किनारे खड़े
शास्त्रों के विवर्त गिन रहे हैं
कुछ माप रहे हैं इसकी गहराई
कुछ इसे देखे बिना
ऊपर मुख किये
कर रहे हैं प्रवचन
देख रहे हैं मुहूर्त
या बाँच रहे हैं श्रीसत्यनारायणकथा
उन्हें यह दुर्गंध नहीं आती।

★★★

कोकिल

इन दिनों
बावला हो गया है कोकिल
कब कूक भरना है
यह उसे ध्यान नहीं रहता
पुरखों के द्वारा बनाये गये सारे नियमों का
इस ससुरे ने सत्यानाश कर के रख दिया।
जब वसन्त का कोई नामोनिशान न हो
तो यह कूजता रहेगा
बहुत तीखा कूजेगा इस तरह
कि जैसे कान ही फाड़ डालेगा
यह भी ध्यान नहीं रहता इसे कि
पंचम टूट कर
कभी धैवत में तो कभी निषाद में घुस कर बेसुरा हो रहा है
कोई पूछे इससे
कि भैया काहे कूकते हो-
ऐसे हालात में –
जब हालात तुम्हारे बस के नहीं रहे?
क्या समझते हो तुम्हारे कूक भरने से
उतर कर चला आयेगा वसंत?
तिस पर तुर्रा यह कि ,
जब बीत चुका होता है वसंत
तब दुष्ट यह कूक भर रहा होता है
कोई पूछे इससे
कि क्या गुजर चुके वसंत के लिये
शोकगीत गा रहे हो?
रही होगी कभी इसके स्वर में मिठास
रहीं होगीं कभी प्राचीन काल में इसकी काकली की
अपनी खूबियाँ

अब तो उसकी तान
ताने मारती लगती है
या फिर खिल्ली उड़ाती..
अब यह एक और विडंबना देखिये
कि वसंत आ चुका
अब इसको कूजना था
तो यह सिर झुकाये
ढीला ढाला
बैठा हुआ है आम की डाल पर
कोई पूछे इससे कि भैया बात क्या हुई
इस तरह चोंच लटकाये काहे बैठे रह गये?

★★★

पण्डित और आधुनिक का संवाद

आधुनिक का प्रश्न -
पाणिनिशास्त्र का पान किया
प्रातिशाख्य तो जानो पूरा का पूरा हजम किया
पर हे पोंगा पंडित! प्रेम का व्याकरण भी क्या कुछ जाना?
सृष्टि के रहस्य जाने,
तंत्रयुक्तियों की चर्चा की
घोंट लिया सब का सब वेदान्त
न्याय पढा, वेदांत गुना और मीमांसा रट डाली
क्या उसका हाल जाना
घर में कलप रही है
वह जो तुम्हारी घरवाली?

पंडित का उत्तर
हे आधुनिक!
व्यर्थ गर्व मत कर
छूँछे घड़े की तरह मत बज
तेरे स्वभाव में घुली हुई है उच्छृंखलता
स्नेह नहीं है,
तिल से तैल निकल जाने के बाद बची
तू खली की डली है
मेरी गृहिणी की चिंता तुझको क्यों
परपुरुषशीलविदारणपरायण
अपनी ही स्त्री को सँभाल ले
मेरे चारों ओर जो सरक रहा है संसार
मैं उसे सही देख लेता हूँ अपने शास्त्रों की आँखों से
तू अपनी आँखों का चश्मा उतार कर
अपनी दृष्टि माँज ले।

★★★

मुस्ताक्षति[3]

(सम्मान्य शूकरों से क्षमाप्रार्थनासहित)

क्या? क्या?? करना ही क्या है हमको
जग की चिंता से आकुल हो कर
क्या लेना देना है हमको उनसे,
किंकर्तव्यविमूढ हुए बैठे हैं जो नर
ठेका हमने लिया नहीं है कि
कर डालेगें सारी दुनिया का उद्धार
संतुष्ट हैं हम शूकर, करते चले आ रहे
मुस्ताक्षति बिना विचार।

क्या करना उसको याद
सतयुग में हुआ कभी जो पूर्वज हमारा
रसातल में डूब चुकी धरती को
इक झटके से जिसने था उद्धारा
हमारा कीचड़ में लिथड़ा साम्राज्य,
उसीमें घुसा कर थूथन
संतुष्ट हम शूकर कर रहे
मुस्ताक्षति हो कर मगन।

फट पड़े आकाश, गिरे वह धरती पर,
धरती गिर कर डूबे सागर में
सारे के सारे सागर और नदी नद
चाहे डूब मरें गोबर के गड्ढे में

[3] मुस्ताक्षतिः – सूअरों के द्वारा कीचड़ में थूथन घुसा कर भोजनकरने की क्रिया। यह कविता कालिदास की पंक्ति "विश्रब्धं क्रियतां वराहततिभिर्मुस्ताक्षतिः पल्वले" पर मम्मट के द्वारा किये गये संशोधन "विश्रब्धं रचयन्तु शूकरवरा मुस्ताक्षतिं पल्वले" के अंतिम दो शब्दों की समस्यापूर्ति है।

अरे हमारा क्या जाने वाला है
काल के गाल में चाहे सारा जग समाये
हम हैं श्रेष्ठ शूकर, करेगें मुस्ताक्षति,
जो हम करते आये

★★★

वह सब कहने की बात नहीं[4]

बरातियों ने जो हलकान कर डाला
शोर मचाया
अर्थपिशाच समधी ने राक्षस बन कर
जो दहेज माँगा
चलते समय देख लेगें हम भी तुम्हारी लड़की को –
यह सब जो कहा
धमकाते हुए
लड़की वालों के लिये
वह सब कहने की बात नहीं।

उखाड़ कर दूसरी जगह लगाई जा रही बेल[5] की तरह
यह जो लड़की ससुराल ले जाई जा रही है
आतंक से आकुल इसका मन,
मन को लपेटते भय की गुंजलक
इसके हृदय में लिपट पड़ती आशंकाएँ
और इसकी माँ का दुख
लड़की वालों के लिये
वह सब कहने की बात नहीं।

यह अपनी लाज अपने तईं बचा लेगी
ससुराल में रह कर यह जियेगी बहुत बरस, क्यों कि यह हमारा जीवन है..
इतना कह कर इसके आगे यदि कोई बात आये भी यदि जीभ की नोक पर
तो उसे रोक लेना है मन मार कर,
लड़की वालों के लिये
वह सब कहने की बात नहीं।

---

[4] कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल में कण्व उक्ति 'न खलु तद् वाच्यं वधूबन्धुभिः' (लड़की वालों को वह नहीं कहना है) की समस्यापूर्ति।

[5] उत्खातप्रतिरोप्यमाणा लता – यह उपमा कालिदास से साभार

★★★

हम

आज्ञापालन में नष्ट जिनका सारा वैभव
हम नहीं वे किंकर
जो नाचते रहें निरर्थक तुम्हारे आगे
हम नहीं वे किन्नर।
जो कूदें तुम्हारे जी बहलाने को
हम नहीं वे वानर
जो जीते हैं अपने मान से
राजन्! हम हैं वे नर

★★★

चाय पीते हुए

कसैला मधुर स्वाद
हर चुस्की में नया होता हुआ
हाथ में लिये कप में झलकती लगती है
चाय के बगीचों की हरियाली
दूर दूर तक घाटियों में फैली
आसाम, सिक्किम या दार्जिलिंग में
पीठ पर बाँस की टोकरी टाँगे
तेजी से हाथ चलाती
चाय की पत्ती चुनने वाली किसी स्त्री का
अपार श्रम
जो उसने निरंतर एक एक पत्ती चुनते हुए किया
चाय में उसकी भी तो गंध घुली है
मीठी और कसैली।

★★★

हेमबर्ग में हिमपात

सबेरे से रात तक लगातार
हेमबर्ग में बर्फ गिरती रही
लटकती रहीं आकाश नीचे नीचे उतरतीं
सफेद चमकीली
डोरियाँ
या आकाश बिखरेता रहा
अनंत अपने तारे
रत्न अपने कोश के
या धरती के लिये चाँदनी में बुने सफेद दुकूलों के परिधान?

बर्फ के गोले श्वेत छवि वाले
धरती पर गिरते हैं
आकाश का पिंजारे की पींजी रुई के फाहे
तिरते हुए
कास के फूलों की छवि और
सागर के फेन के पुंजों को
शंख की शुभ्र कांति को
धता बताती
हिम की शोभा धरती पर स्तब्ध बिखरी
स्तब्ध करती
या कि दूध की धार
स्थिर हो गई

रास्तों पर गलियों में वाहनों पर पगडंडियों पर
पैरों तले कुचली जाती
इकट्ठा कर कर के बुहारी जाती
राशि राशि चाँदी
पेड़ों की शाखाओं पर
बर्फ से फूल लटकते हुए

पत्तों के बीच
मोतियों की लड़ियों की तरह
या सफेद कमल की खिली खिली मालाएँ
बिछीं हुईं धरती पर
सफेदी की चमचमाहट से आँखों को मूँदती हुई
वर्णागम, वर्णविपर्यय, वर्णविकार और वर्णनाश
ये अन्यत्र होते हैं
बर्फ का वर्ण तो सदैव शुभ्र।

★★★

धूप की किस्में

धूप की कई किस्में होती हैं
गुनगुनी धूप
गुलाबी धूप
नम धूप
तीखी धूप
बदन सहलाती मुलायम धूप

धूप के कई रंग होते हैं
सुनहरी धूप
हल्दी के रंग की पीली धूप
पेड़ों से छन कर आती हरी धूप

सबसे अच्छी धूप -
हाड़ कँपाता जाड़ा झेलते
गरीब का तन
गरमाने के लिये
घने कोहरे को भेद कर
बाहर आने को आकुल धूप...

थूहर

नहीं हैं नीम, पीपल और बड़ के
बड़े बड़े पेड
देवदारु की तो
कथा ही दूर छूट गई
दूर दूर तक
चिलचिलाती धूप और
लीलने को बढा आता रेत का सागर
सुरसा की तरह मुँह फैलाये।
इस मरुस्थल से लड़ रहा है
एक अकेला थूहर

★★★

आज की नायिका

दर्पण में रूप अपना निहारते हुए
मुग्ध घंटों तक
प्रिय के उपभोग के चिह्न
नखक्षत, दंतक्षत...
नहीं देखती वह
आँखों पर चश्मा लगा कर
डायरी में नोट करती है वह अचानक
दूध या धोबी का हिसाब..

नितप्रति पून्यौ का उजास फैलाने वाली
नायिकाएँ
अब खुद
वे खटती हैं रसोई में
भीतर के अँधेरे को धकेलती हुईं

संचारिणी दीपशिखा अब वह नहीं रही
जो हाथ में वरमाल लिये निकले
राजाओं के बीच से
जिसके गुजर जाने पर उनके चेहरे फक्क पड़ जायें
रात की पारी खतम कर वह स्वयं विवर्ण मुख से भयाक्रांत निकलती है
किसी काल सेंटर से
इस आशंका के साथ कि
उसके साथ भी कहीं भी वह हो सकता है
जिसकी दहलाने वाली खबरों से भरे होते हैं
रोज के अखबार
उसके मन के दिये पर फिर भी
जल रही होती है आशा की दीपशिखा।

★★★

नववर्षमंगल

लज्जा से नीचा मुँह किये हुए गुजरते हुए साल ने
अपना दाय सौंपते हुए आगन्तुक वर्ष को
कहा –
मनुष्य के पापों की गठरी में लिथड़ा यह दुर्वह भार
मैं ढोता रहा हूँ जो अब तक
वत्स, तेरे कंधों पर अब मैं लाद रहा हूँ।

वज्र से कठोर क्रूर दारुण हिंस्र नरपशु
प्रतिदिन अबलाओं पर करते रहे बलात्कार
कच्चा मांस खाने के आतुर जो माताओं के देह तक को नोंचते रहे
धरती जिनसे बनती जा रही पशुओं से संकुल
इसे बचाना और लाज अपने माता के दूध की रखना
जो शील हरते आ रहे स्त्रियों का उन्हें सूली पर चढाना
इस तरह बुजुर्ग के द्वारा सखेद सीख दी गई
जिस शिशु नववर्ष को
वह यहाँ की स्त्रियों के मंगलमय बने

★★★